

ज्ञान तत्व 205,

- (क) लेख, दायित्व ,कर्तव्य एवं अधिकार की विस्तृत विवेचना ।
- (ख) असगर अली इंजिनियर द्वारा इस्लामिक आतंकवाद की विवेचना और मेरी समीक्षा ।
- (ग) श्री श्याम विमल का मंहगाई संबंधी प्रश्न और मेरा उत्तर ।
- (घ) श्री रामस्वरूप जी अजमेर के गोमांश भोजन संबंधी प्रश्न और उत्तर ।
- (च) महिलाओं के बढ़ते यौन शोषण के आरोप की समीक्षा ।
- (छ) आर्चाय पंकज द्वारा नीजिकरण का विरोध और मेरा उत्तर ।

(क) दायित्व ,कर्तव्य एवं अधिकार

पूरी दुनिया में एक समस्या बढ़ती जा रही है कि सामान्यतया लोग दायित्व तथा कर्तव्य का अन्तर नहीं समझते। दुनिया भर के अच्छे अच्छे विद्वान तक इस मामले में भूल कर जाते हैं तो सामान्य जनों का तो कहना ही क्या? यदि दायित्व तथा कर्तव्य का अन्तर ठीक ठीक समझ में आ जाय तो हमारी अस्सी प्रतिशत समस्याएँ स्वयंमेव कम हो जायेगी। हमें अवश्य ही यह अन्तर समझना चाहिये।

किसी व्यक्ति के दायित्व हमेशा दूसरों के अधिकार होते हैं जबकि कर्तव्य सिर्फ स्वैच्छिक तथा एक पक्षीय होते हैं द्विपक्षीय नहीं। हमारा कर्तव्य सामने वाले का अधिकार नहीं हो सकता। दायित्व आम तौर पर लोग हमें सौंपते हैं। किन्तु यदि कल्पना करिये कि कोई दायित्व किसी ने सौंपा नहीं और हमने स्वेच्छा से स्वीकार किया है तब भी वह दायित्व पूरा करने के लिये हम बाध्य हैं क्योंकि वह हमारा स्वैच्छिक कर्तव्य न होकर दायित्व बन चुका है। यह अन्तर यद्यपि बहुत मामूली दिखते हुए भी बहुत गंभीर है क्योंकि इसका बहुत प्रभाव पड़ता है। एक एक्सीडेंट के कारण व्यक्ति मृत्यु से जूझ रहा है। एक ग्लास पानी मिलने से वह दवा खाकर जी सकता है। मेरे पास पर्याप्त पानी उपलब्ध है किन्तु मैं उसे पानी नहीं देता और वह व्यक्ति मर जाता है तो मेरा कार्य असामाजिक तो है किन्तु अपराध या समाज विरोधी नहीं। यदि मैं ऐसे व्यक्ति की सेवा के लिये ही नियुक्त हूँ और मैं उसे पानी नहीं देता तो वह मेरा अपराध है। जिसने मुझे नियुक्त किया है वह मुझे दंडित भी कर सकता है। न्याय और सुरक्षा राज्य का दायित्व होता है। बाकी सारे काम जिनमें शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, पर्यावरण आदि सब शामिल हैं, राज्य के दायित्व नहीं होते। राज्य यदि न्याय और सुरक्षा न दे तो वह अपराधी है। हम उसे दण्डित भी कर सकते हैं किन्तु शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, भोजन आदि राज्य न भी दे तो हम उसे दण्डित नहीं कर सकते हैं क्योंकि यह राज्य का दायित्व न होकर स्वैच्छिक कर्तव्य मात्र है। किसी सिर्फिरे पश्चिमी विद्वान ने कल्याणकारी राज्य की कल्पना कर दी। पश्चिम के देशों में न्याय व्यवस्था मजबूत थी और सुरक्षा भी थी ही। पश्चिम ने जनकल्याणकारी राज्य की कल्पना को आदर्श मानकर उसे अपना दायित्व घोषित कर दिया। हमारे देश के आधुनिक विद्वानों ने तो जल्दी जल्दी में केवल नकल की। उन्होंने भी जनकल्याणकारी राज्य को अपना दायित्व घोषित कर दिया। हमारे संविधान निर्माताओं ने समझा ही नहीं कि संविधान देश काल परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न होता है एक नहीं। भारत में न्याय और सुरक्षा की स्थिति पश्चिम से भिन्न थी। हमारी ना समझ घोषणा ने भारत में न्याय और सुरक्षा को पीछे ढकेल कर स्वैच्छिक कर्तव्यों को ही आगे खड़ा कर दिया। आज भारत में व्याप्त सम्पूर्ण अव्यवस्था में दायित्व और कर्तव्य का अन्तर न समझना भी एक प्रमुख कारण रहा है।

दायित्व बाध्यकारी होते हैं और कर्तव्य स्वैच्छिक। दायित्व उत्तरदायित्व पूर्ण होते हैं किन्तु कर्तव्य प्रशंसा या धन्यवाद पूर्ण। कर्तव्य के लिये किसी से प्रश्न नहीं किया जा सकता। दायित्व के साथ साथ शक्ति या पावर भी जुड़ा होता है जिसे हिन्दी में अधिकार कहते हैं। हम जिस व्यक्ति पर किसी कार्य का दायित्व सौंपते हैं उस व्यक्ति या संस्था को कुछ अधिकार भी सौंपते हैं। अधिकार जब मूल व्यक्ति के पास रहता है तो वह राइट होता है किन्तु वही अधिकार जब किसी दूसरे को दिया जाता है तब वह उसकी शक्ति या पावर बन जाता है। यह शक्ति ही उस व्यक्ति को दायित्व पूरा करने में काम आती है। किन्तु यह शक्ति, दुधारी तलवार होती है। यह शक्ति जहाँ दायित्व पूरा करने में सहायक होती है वहीं इस शक्ति का दुरुपयोग भी किया जा सकता है। ऐसी संभावना के मद्देनजर हमारी मजबूरी हो जाती है कि हम उस शक्ति के दुरुपयोग को रोकने

के लिये किसी अन्य को और अधिक शक्ति सम्पन्न बनायें। यह शक्ति जितनी ही अधिक बढ़ती है उतना ही अधिक दुरुपयोग का खतरा भी बढ़ता जाता है। यह कम चलता रहता है।

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में यही भूल हो रही है कि कर्तव्यों को दायित्व में बदलने की होड़ मची हुई है। राज्य कहीं रुकना ही नहीं चाहता। वह बिना हमसे पूछे दायित्व स्वीकार करता जा रहा है और उस दायित्व को पूरा करने के लिये अपने पास शक्ति भी इकट्ठी करता जा रहा है। यह एकत्रित शक्ति ही दुरुपयोग के अवसर पैदा करती है जिसे रोकने के लिये किसी और ज्यादा शक्ति सम्पन्न व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जब राज्य अपनी ताकत से अधिक दायित्व स्वीकार कर लेता है तब वह उन दायित्वों की प्राथमिकताएँ तय करने लगता है और स्वाभाविक है कि ऐसी प्राथमिकताओं में न्याय और सुरक्षा पिछड़कर अन्य जनकल्याणकारी आगे स्थान पा जावें।

सबसे खतरनाक बात है पुलिस की। सम्पूर्ण भारत में पुलिस विभाग के विरुद्ध दुरुपयोगों की शिकायतें आम बात हो गई हैं। हर न्यायाधीश इस मामले में पुलिस वालों के विरुद्ध टिप्पणी करना जनहित का कार्य समझता है। ऐसी टिप्पणी से उक्त न्यायाधीश का रूतबा भी बढ़ता है। हर मीडिया कर्मी, राजनेता, मानवाधिकार कार्यकर्ता, साहित्यकार या कोई भी परजीवी, लगातार पुलिस के खिलाफ वातावरण बनाने में लगा रहता है। किंतु दूसरी ओर पुलिस विभाग पर नये नये दायित्व डालने में भी ये लोग कभी पीछे नहीं रहते। रोज नये नये कानून बनाकर उन कानूनों को लागू करवाने का दायित्व पुलिस पर। स्वाभाविक है कि इन नये नये दायित्वों के साथ साथ पुलिस को शक्ति भी देनी पड़ती है और शक्ति के साथ साथ उसके दुरुपयोग की भी संभावनाएँ बढ़ने लगती हैं जिसका लाभ उठाकर परजीवी पुलिस का मनोबल गिराने का अभियान चलाते रहते हैं। जब सब लोग समझते ही हैं कि पुलिस अपनी शक्ति का दुरुपयोग करती है तो उसके दायित्वों की समीक्षा करके उसके पंख क्यों न कतर दिये जावें। दहेज और शराब भी पुलिस ही रोकेंगी। वैश्यालयों पर नियंत्रण भी वही करेगी। यहाँ तक कि सिगरेट रोकने या वाहन चालक को हेल्मेट पहनाने का काम भी पुलिस ही करेगी। इतने सारे दायित्व पुलिस को सौंपे ही क्यों जावे? और यदि सौंपना आवश्यक ही है तो बिना स्पष्ट प्रमाण के आरोप लगाने की बुरी आदत हम क्यों नहीं छोड़ सकते? दहेज रोकने का दायित्व पुलिस से हटाकर उस मंत्रालय को सौंप दे जो दहेज रोकने का कानून बना रहा है। शराब गांजा, तम्बाकू आदि एक्साइज विभाग को दे दें। यातायात स्थानीय संस्थाओं को दे दें। पुलिस के दायित्व कम हो जायेंगे। जिस अनुपात में पुलिस के दायित्व घटेंगे उसी अनुपात में उसकी शक्ति घटेगी और जिस अनुपात में शक्ति घटेगी उसी अनुपात में उसके दुरुपयोग के खतरे घटेंगे। दूसरी ओर एक लाभ यह भी होगा कि महत्वपूर्ण दायित्व पूरा करने के लिए पुलिस की कार्य कुशलता भी बढ़ेगी। अनेक समस्याओं का सुलझना आसान हो जायेगा। यदि हमने ऐसा न करके पुलिस के दायित्व बढ़ाने का क्रम जारी रखा तो खतरा पुलिस से नहीं है। खतरा है मीडिया नेता, मानवाधिकारी आदि परजीवियों से जिनका एकमात्र आधार है पुलिस की आलोचना करके अपना न्यूशंस वैल्यू बढ़ाना। हमें चाहिये कि हम इस खतरे को भी ध्यान में रखें।

पुलिस का मामला तो एक उदाहरण मात्र है। वास्तविक खतरा तो राजनैतिक व्यवस्था से है। राजनैतिक व्यवस्था को यह विशेष सुविधा प्राप्त है कि वह किसी भी सीमा तक दायित्व स्वयं ले ले और उन दायित्वों को पूरा करने के नाम पर अपना पावर भी बढ़ाते चली जावे। स्वाभाविक है कि पावर के दुरुपयोग के अवसर भी बढ़ेंगे तथा भ्रष्टाचार भी बढ़ेंगे। इस दुरुपयोग और भ्रष्टाचार को रोकने के नाम पर कुछ और पावर अपने पास इकट्ठा कर ले और यह कार्य तब तक जारी रहे जब तक समाज पूरी तरह गुलाम न हो जावें। आज सम्पूर्ण भारत में यही हो रहा है जो एक खतरे की घंटी है और इस खतरे को समझना समझाना हम सबका कर्तव्य है।

कार्यालयीन प्रश्नों के उत्तर

(ख) प्रश्न— आपने असगर अली इंजीनियर के विषय में दो तीन बार टिप्पणियों की हैं। उनका एक लेख विवेक ज्योति मासिक पत्रिका जो कानपुर से निकलती है उसमें छपा है। आप उस लेख की समीक्षा करें।

कश्मीर में इस्लाम की भूमिका और हमारा कर्तव्य तथा समस्या के समाधान की भी समीक्षा करें।

उत्तर—असगर अली जी ने जिस मालेगांव घटना में हिन्दू आतंकवादियों की बात की थी उस घटना में भी मुझे मुस्लिम आतंकवादियों के ही हाथ होने का संदेह था क्योंकि मुझे पक्का विश्वास था कि कोई हिन्दू धर्म के नाम पर आतंकवादी नहीं हो सकता। मालेगांव मेरे निवास से हजार किलो मीटर दूर था इसलिये प्रत्यक्ष जानकारी संभव नहीं थी। दूसरी ओर असगर अली जी मालेगांव के निकट होने से प्रत्यक्ष समझ सके। उनकी जानकारी सच निकली और मेरी गलत इसका मुझे खेद है। विशेषकर मेरे मित्र उग्रनाथ जी अलीगंज लखनऊ से मैं क्षमा प्रार्थी हूँ जिन्होंने मुझे इस संबंध में सतर्क भी किया था किन्तु मुझे संघ परिवार के लोगों पर पूरा विश्वास था कि वे उग्रवादी तो हो सकते हैं किन्तु आतंकवादी कभी नहीं हो सकते। मेरा वह विश्वास उसी दिन टूट गया जब प्रज्ञा पुरोहित सरीखे तथा कथित हिन्दुओं पर आतंकवाद का आरोप लगा और संघ परिवार प्रज्ञा, पुरोहित आदि के समर्थन में आ खड़ा हुआ ।

प्रस्तुत लेख जिसके आधार पर समीक्षा करनी है, असगर अली इंजीनियर जी द्वारा लिखा गया है जिसका मुख्य अंश यह है:—“सभी विद्वान सहमत हैं कि ओसामा ने अमेरिकी वर्ल्ड सेन्टर पर हुए आक्रमण के समर्थन में अन्यायी शासकों के विरुद्ध हिंसा के उपयोग की अनुमति संबंधी इब्न तायमियों के फतवे को आधार बनाया। इब्न तायमियों ने अपने बचपन में बगदाद पर हुए मंगोलिया के आक्रमण पश्चात् हिंसा और अत्याचार देखा था। तायमियां ने बाद में इस संबंध में तुर्की के मर्दिन शहर के किले में बैठकर चार फतवे जारी किये जो ऐसी हिंसा को प्रोत्साहित करते हैं। शुरुआती दौर में इन फतवों से असहमत होते हुए भी उलेमा या तो चुप रहे या हल्का विरोध किया जो प्रभावहीन रहा किन्तु जब इन फतवों को आधार बनाकर ओसामा आदि लगातार हिंसा विस्तार करने लगे तब चिन्ता हुई। अनेक उलेमा खुलकर फतवे और उसके दुरुपयोग के विरुद्ध सामने आये। कुछ उलेमाओं ने मार्च 2010 में मर्दिन शहर में ही बैठकर तायमियां के फतवों की समीक्षा की और घोषित किया कि जो भी इस फतवे के आधार पर मुसलमानों या गैर— मुसलमानों का कत्ल करता है, वह इस फतवे की गलत व्याख्या करता है।” उन्होंने कहा, “किसी भी मुसलमान व्यक्ति या संगठन को युद्ध की घोषणा करने या जेहादी युद्ध छेड़ने का अधिकार नहीं है।”

जो लोग तायमियों के फतवों को उद्धृत करते हैं, वे उन परिस्थितियों का ध्यान नहीं रखते, जिनमें ये जारी किए गए थे। किसी भी ऐतिहासिक दस्तावेज की सही व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि हम यह भी देखें कि किस युग में और किन सन्दर्भों में वो लिखा गया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह फतवा, तायमियों ने अपने हनबली सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर जारी किया था। उस समय भी सभी इस्लामिक विद्वान इस फतवे से सहमत नहीं थे। बेल्जियम के इस्लामिक विद्वान प्रो० याह्या माईकाट के अनुसार, मर्दिन फतवे में अनेक अस्पष्टताएँ हैं, जिन्हें आतंकवादियों और पश्चिमी विद्वानों व टीकाकारों द्वारा नजरअन्दाज किया गया है।

मर्दिन बैठक में सउदी अरब, तुर्की, भारत, सेनेगल, कुवैत, ईरान, मोरक्को और इण्डोनेशिया सहित अन्य देशों से 15 प्रतिष्ठित इस्लामिक विद्वान शामिल हुए। इनमें शामिल थे बोस्निया के बड़े मुत्ती मुस्तफा सेरिक, मॉरीटीनिया के शेख अब्दुलाह बिन बयाह और यमन के शेख हबीब अली अल् जिफरी। इस तरह, यह साफ है कि जहाँ फतवे को अकेले तायमियों ने जारी किया था वहीं एशिया में इण्डोनेशिया से लेकर अफ्रीका में अल्जीयर्स तक के उलेमा व मुत्तियों ने इस फतवे को एक स्वर से खारिज कर दिया है। आतंकवाद को खारिज करने वाला यह वक्तव्य, इस्लामिक विश्व की राय का प्रतिनिधित्व करता है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि संगोष्ठी के निष्कर्षों के बारे में सुनते ही आतंकवादी अपने हथियार डाल देंगे और शान्ति के पुजारी बन जायेंगे। उनके अन्य हित उनके लिए इतने महत्वपूर्ण हैं कि इस्लामिक दुनिया द्वारा उनके धार्मिक आधार को खारिज कर दिए जाने की शायद ही वे परवाह करें परन्तु इससे निश्चय ही कुछ बातें साफ हुई हैं और इस्लामिक दुनिया की असली सोच सामने आई है। यह भी पक्का है कि इससे इस्लाम—विरोधी दुष्प्रचार नहीं रुकेगा, और इस्लाम—विरोधी ताकतें, दुनिया के सभी हिस्सों से मर्दिन में इकट्ठा हुए प्रतिष्ठित उलेमा की जगह ओसामा बिन लादेन को ही इस्लाम का असली प्रतिनिधि मानते रहेंगे।

ऐसा नहीं है कि केवल मर्दिन में इकट्ठा हुए उलेमा ने आतंकवाद की निन्दा की हो। इसके पहले भी कई इस्लामिक देशों में आयोजित संगोष्ठियों, सम्मेलनों और बैठकों में आतंकवाद को गलत और गैर—इस्लामिक ठहराया जा चुका है। इस विषय पर कई पुस्तकें भी लिखी जा चुकी हैं। इनमें से एक है पाकिस्तान के मौलाना तहिरूल कादरी द्वारा लिखी पुस्तक, जिसमें 600 पृष्ठ हैं। इस पुस्तक में मौलाना ने इस्लाम के उद्भव से लेकर आज तक के कई इस्लामिक विद्वानों—

जिनमें मध्यकालीन इस्लामिक विद्वान शामिल हैं— के उद्धरणों को शामिल किया गया है, जिनमें आतंकवाद को गलत बताया गया है और यह कहा गया है कि नागरिकों (अर्थात् गैर-योद्धाओं), को मारने पर इस्लाम कड़ा प्रतिबन्ध लगाता है।

कुछ समय पहले, ऑक्सफोर्ड में आयोजित एक सेमीनार में इस्लामिक विद्वानों ने बेल्जियम के इस्लामिक धर्मशास्त्री प्रो० याह्या माईकाट द्वारा लिखित एक पुस्तक पर चर्चा की गई। प्रो० याह्या, बेल्जियम विश्वविद्यालय में इस्लामिक इतिहास और संस्कृति के शिक्षक हैं। उनकी पुस्तक 'मुस्लिम अण्डर नॉन-मुस्लिम रूल' (गैर-मुसलमानों के शासन में मुसलमान) में लेखक ने तायमियों द्वारा जारी किए मर्दिन फतवों का विस्तृत विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण में तायमियों के जीवन और उनके कार्यकलापों का विवरण भी दिया गया है।

याह्या माईकाट का कहना है कि तायमियों ने इन फतवों को एक विशेष सन्दर्भ में जारी किया था । उस सन्दर्भ को समझे बिना, उन परिस्थितियों को जाने बिना, यदि हम उनके लेखन को पढ़ेंगे तो हम न केवल उसका सही अर्थ नहीं लगा सकेंगे बल्कि उसकी गलत व्याख्या भी कर सकते हैं। मर्दिन फतवे इसका अच्छा उदाहरण है। मर्दिन, " सैन्य दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। वहाँ का किला अविजेय बताया जाता है और इस किले से ऊपरी मेसेपोटीमिया के मैदानों में बहुत दूर तक नजर रखी जा सकती है।"

मर्दिन फतवे के जारी होने की तारीख स्पष्ट नहीं है। इब्न तायमियों ने इस फतवे को इस आग्रह पर जारी किया था कि वे यह स्पष्ट करें कि मर्दिन, ' दारस्लाम' (शान्ति का क्षेत्र)है या ' दारूल हर्ब'(युद्ध का क्षेत्र)। प्रो० याह्या कहते हैं कि फतवा अस्पष्ट है और इस प्रश्न का साफ उत्तर नहीं देता।

तायमियों के स्वयं के शब्दों में, "मर्दिन, दारसलाम है या दारूल हर्ब?यह एक मिलाजुला शहर है जिसमें ये दोनों ही पाये जाते हैं। दारस्सलाम में इस्लाम की संस्थाएँ व कानून लागू करने की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वहाँ की सेना में मुसलमान ही होते हैं। ना ही यहाँ दारूल हर्ब की परिस्थितियों हैं क्योंकि दारूल हर्ब में काफिर रहते हैं। यह जो तीसरे प्रकार का है जिसमें मुसलमान को वही मिलेगा जिसके वह लायक है और जो इस्लाम के रास्ते से भटकेगा या इस्लाम के कानून का पालन नहीं करेगा, उससे वैसे ही निपटा जाएगा जिसके वह लायक है।"

यह महत्वपूर्ण है कि इब्न तायमियों ने साफ-साफ शब्दों में न तो यह कहा कि मर्दिन युद्ध का क्षेत्र है और न यह कि वह शान्ति का क्षेत्र है। इस महत्वपूर्ण पहलू को ओसामा बिन लादेन और इब्न तायमियों का दानवीकरण करने वाले पश्चिमी विद्वान – दोनों ने ही नजरअन्दाज किया। आज की दुनिया में लगभग सभी देश मिश्रित धार्मिक आबादी वाले हैं। कहीं मुसलमानों की बहुसंख्या है तो कहीं वे अल्पसंख्यक हैं।

आतंकवाद का विरोध कर रहे उलेमा बार-बार इस बात पर जोर देते आए हैं कि आज की बहुधार्मिक दुनिया में मध्यकालीन इस्लामिक विधिवेत्ताओं की राय अप्रासंगिक है। कई बार फतवे-जिसमें मर्दिन फतवा शामिल है-बिना स्थिति का पूरा जायजा लिए जारी कर दिए जाते हैं। इस्लामिक विद्वान एकमत हैं कि यदि मुसलमानों को शांति से रहने दिया जाता है और उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता दी जाती है तो वह क्षेत्र दारूल सलाम के अलावा कुछ नहीं हो सकता। और ऐसे क्षेत्र में किसी भी प्रकार की हिंसा को उचित नहीं ठहराया जा सकता। अतः आज की दुनिया में आतंकवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

मैने असगर अली जी का यह लेख पढ़ा और समझा । उपरोक्त लेख में असगर अली जी ने न तो तायमियां के मर्दिन फतवे को अस्वीकार किया न संशोधित फतवे के गुण दोष की व्याख्या की। इब्न तायमियों का फतवा जिन परिस्थितियों में जारी हुआ वैसी हालत आज नहीं होने से फतवा अनावश्यक घोषित होना चाहिये था किन्तु असगर अली जी ने तोड़ मरोड़

कर तायमियां फतवे की व्याख्या बदलने की कोशिश की। जो संशोधित व्याख्या बनी वह भी अपर्याप्त है क्योंकि इस व्याख्यानुसार “मुसलमान को वही मिलेगा जिसके वह लायक है और जो इस्लाम की राह से भटकेगा या इस्लाम के कानून का पालन नहीं करेगा उससे वैसे ही निपटा जायेगा जिसके वह लायक है।” स्पष्ट है कि इब्ने मियां का फतवा गैर मुसलमानों के लिये धमकी भरा एलान है किन्तु संशोधित वर्तमान फतवा भी मुसलमानों की शांति और धार्मिक स्वतंत्रता तक ही सीमित है, दूसरों की स्वतंत्रता तक नहीं। स्पष्ट है कि हमें यह संशोधित फतवा भी मंजूर नहीं। हमें तो मुसलमानों की ओर से ऐसा फतवा चाहिये कि जिस क्षेत्र के नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता तथा शांति पूर्वक रहने की गारंटी दी जाती है वह दारुलस्लाम क्षेत्र है और वहाँ हिंसा का कोई स्थान नहीं है। जब तक ऐसी घोषणा नहीं की जाती तब तक मात्र शब्दाडंबर ही माना जायेगा, और कुछ नहीं। मुझे लगता है कि अब मुसलमानों के लिये दो टूक निर्णय का समय आ गया है कि या तो वे धर्म और राज्य को बिल्कुल अलग अलग करें या विश्व अविश्वास के परिणाम भेजने के लिये तैयार रहें।

कश्मीर की समस्या न दो देशों की समस्या है न दो धर्मों की और न ही न्याय अन्याय की। कश्मीर की समस्या शुद्ध रूप से इस्लामिक विस्तारवाद के विरुद्ध भारत की सुरक्षा का मामला है। दुनिया का हर मुसलमान विश्वास करता है कि विवाद को लम्बे से लम्बे खींचकर प्रतिपक्षी को थका देने में मुसलमानों का दुनिया में कोई मुकाबला नहीं है। अन्य सम्यताएँ विवाद को इतने लम्बे समय तक नहीं झेल सकतीं। वे कहीं न कहीं जाकर थक जाती हैं और समझौता कर लेती हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर मुसलमानों ने दुनिया के कई क्षेत्रों में अलग अलग फ्रंट खोल रखे हैं। कश्मीर उन फ्रंटों में से एक है। कश्मीरी मुसलमान इस टकराव को कभी निर्णायक समाधान तक पहुँचने ही नहीं देंगे जब तक हम भारतीय थक न जावें। यदि हम आज कश्मीर से हट जावें तो जल्दी ही कश्मीर को दारुल इस्लाम घोषित करके पंजाब में या असम में किसी न किसी बहाने टकराव शुरू हो जायेगा। इसलिये हमारे पास कश्मीर समस्या पर विचार करने की अपेक्षा मुसलमानों का यह घमंड तोड़ना ज्यादा जरूरी है कि वे कश्मीर में भी हमें थका ही देंगे। असगर अली जी ने अपने लेख में इस्लाम विरोधी दुनिया पर आरोप लगाया है कि “यह भी पक्का है कि इससे इस्लाम विरोधी दुष्प्रचार नहीं रुकेगा और इस्लाम विरोधी ताकतें दुनिया के सभी हिस्सों से मर्दिन में इकट्ठा हुए प्रतिष्ठित उलेमा की जगह ओसामा को ही इस्लाम का सही प्रतिनिधि मानते रहेंगे।” मेरे विचार में मर्दिन में इकट्ठे विद्वानों ने इस्लाम विरोधी विश्व की जागरूकता पर मरहम पट्टी मात्र करने की कोशिश की है। उन्होंने साफ साफ शब्दों में आतंक बाद को अमान्य नहीं किया। मैं उनकी नीयत पर शक नहीं कर रहा किन्तु इस फतवे का आम मुसलमानों पर प्रभाव न होने को साफ साफ देख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि इन्होंने विदेशी पैसे और भारतीय राजनेताओं मुलायम सिंह, अमर सिंह दिग्विजय सिंह आदि का प्रोत्साहन पाकर दिल्ली की बाटला हाउस इन्काउन्टर को विवादास्पद बनाने के लिये जंतर मंतर पर धरना तक देने की हिम्मत की और इतनी साफ और प्रत्यक्ष घटना के बाद भी बड़ी बेशर्मी से उसे विवादास्पद सिद्ध करने के पीछे पड़े हैं। इन लोगों ने ही इशरत जहाँ मामले को विवादास्पद बनाकर इतना लम्बा खींच दिया जो आज तक चल रहा है। यदि हेडली का इशरत जहाँ के आतंकवादी होने का साफ साफ बयान नहीं आया होता तो बेचारे नरेन्द्र मोदी तो अब तक संदेह में थे ही। अब तीस्ता सीतलवाड की भी बोलती बन्द है अन्यथा इशरत जहाँ मामले को वह भी तीन चार वर्षों से अपना व्यापार बनाये हुए थी। कश्मीर के मुख्यमंत्री उमर अब्दुला बयान दे रहे हैं कि अफजल की फांसी का कश्मीर में बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ मुसलमानों पर अन्य लोगों के मन में अविश्वास बढ़ता जा रहा है। यदि आप धार्मिक रूप से एक हो सकते हैं तो आप तब तक विजयी हैं जब तक अन्य धर्मावलम्बी आपस में एक नहीं होते। अब धीरे धीरे विश्व जनमत आपके विरुद्ध हो रहा है तो मर्दिन प्रस्ताव के टोटके उस अविश्वास को नहीं रोक सकते। इसलिये कश्मीर समस्या को इस परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये कि वह समस्या सिर्फ कश्मीर की न होकर सम्पूर्ण इस्लामिक विस्तारवाद का एक भाग है और उसी तरह उसका हल भी होगा। इस समस्या का समाधान न चर्चाओं से होना है न विकास से और न ही बन्दूक से। चर्चाएँ मुसलमानों के बढ़े मनोबल को नहीं तोड़ सकती। विकास के प्रयत्नों को भी वे हमारी मजबूरी मानते हैं और बन्दूक उसका समाधान इसलिये नहीं है कि मरने की उनको विशेष चिन्ता नहीं। इसलिये इस समस्या का कश्मीर में तो समाधान यही है कि हम न थकें न परेशान हों। चर्चा, विकास, बंदूक का मिला जुला प्रयास करते रहें और उन्हें थकने के लिये मजबूर कर दें।

शेष भारत इस समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। यदि कश्मीर से बाहर के सम्पूर्ण भारत में कश्मीर मामले पर एक आंदोलन की लहर उठे जिस लहर में भारत की मुस्लिम आबादी की विश्वसनीयता संकट में आवे तब संभव है कि कश्मीर का मुसलमान कुछ सोचने के लिये विवश हो। हो सकता है कि इस प्रयत्न से पाकिस्तान भी चिन्तित हो। साइन बोर्ड मामले में हम इसे आजमा चुके हैं। ज्योंही पूरे भारत में आवाजों की लहरें उठनी शुरू हुई कि कश्मीरी मुसलमान दब गये। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। आप उन कश्मीरी मुसलमानों को क्या समझायेंगे। भारत की खुफिया एजेन्सी ने

दो आन्दोलनरत् बड़े नेताओं की फोन वार्ता टेप की है जिसमें एक बड़ा नेता दूसरे को कह रहा है कि कम से कम दस पंद्रह लोग अवश्य मरने चाहिये। इतना पैसा देने के बाद भी कम लोग मरे तो कैसे आंदोलन बढ़ेगा। यह टेप पूरे भारत में चिन्गारी बन सकता था। पूरे भारत से ऐसे नेता के विरुद्ध आवाज उठनी चाहिये थी। किन्तु सब चुप रह गये।

मेरे मन में लगातार यह धारणा मजबूत होती जा रही है कि व्यक्तिगत मामलों में मुसलमान पूर्ण विश्वसनीय होता है और सामूहिक मामलों में पूरी तरह अविश्वसनीय। यदि इनका कोई मामला धर्म से जुड़ा हो तो उस मामले में हमें पूरी सतर्कता बर्तनी चाहिये क्योंकि धार्मिक मामले में मुसलमान न न्याय को ध्यान में रखता है न जान को। कश्मीर मामले को भी इसी रूप में देखना चाहिये।

(ग) श्री श्याम विमल, जनसत्ता तेरह जुलाई दिल्ली

निष्कर्ष— सन् 2010 के उच्चतम महंगाई के इन दिनों ठीक बयालीस साल पहले की ऐसी एक डायरी पुरानी कॉपी-किताबों के बीच पड़ी मिली है, जिसमें मेरे पिता ने अपनी दिनचर्या अनुसार उस वक्त के धर-खर्च का ब्योरा लिखा हुआ है। उसे पढ़ कर लगता है कि वह जमाना सस्ता था, मौज ही मौज रही होगी। पर उस वक्त रूपए की कीमत क्या थी, कितना वेतन मिलता था, यहां तक कि पैसे-दो पैसे के छोटे सिक्के भी बाजार में चलते थे, इस संदर्भ को जाने बिना महंगे-सस्ते का फ़ैसला नहीं लिया जा सकता। घरेलू जरूरी चीजें ज्यादातर खाने-पीने-पहनने से संबंधित होती हैं। आज महंगाई के मारे दुखी-परेशान प्रौढ़ और युवा उपभोक्ताओं की जानकारी के लिए उन आंकड़ों को दर्शाना मनोरंजक होगा, जिन्हें देख-पढ़ कर वे आंकड़ों के इस जंजाल को कदाचित अविश्वसनीय समझ कर 'एंटीक पीस' की प्राप्ति का-सा सुखद आश्चर्य महसूस करेंगे और मुझे भरोसा है उन्हें यह दिलचस्प भी लगेगा।

मेरे पिता संस्कृत के साधारण वेतनभोगी शिक्षक पद से रिटायर हुए थे और कथावाचन जैसी पुरोहिती करके भी दक्षिणा मात्र से संतुष्ट रहते। घर खर्च का ओर मुंडन, विवाह आदि संस्कारों पर संबंधी जनों के बीच लेन-देन का ब्योरा भी डायरी में लिख देते थे। उसमें बयालीस साल पहले के सन् 1968 के मई महीने के मात्र कुछ दिनों के आय-व्यय का दर्ज ब्योरा संक्षिप्त रूप से कुछ यों है।

पहले आय का ब्योरा । विवाह पद्धति का कर्मकांड कराने के ग्यारह रूपए, सवा रूपया साया-मुहूर्त निकालने का, दो रूपए भक्त जयराम जी से, पांच रूपए वर्षफल बनाने का ओमप्रकाश से, सत्तर रूपए विवाह में प्राप्त, पांच रूपए हरशरण दास से वर्षफल के, पांच रूपए नवग्रह पूजा कराई, ढाई रूपए सत्यनारायण कथा कराने के, दो रूपए चौधरी प्रताप सिंह से, अस्सी रूपए जाप के, पांच रूपए दो टेवो की बनवाई, दो रूपए मुहूर्त निकालने के।

अब उसी मई महिने के कुछ दिनों का व्यय-सात रूपए नब्बे पैसे चीनी दो किलो, पचास पैसे उड़द की दाल एक पाव, इतना ही राजमा पचास पैसे, चवालीस पैसे के केले, एक रूपए दस पैसे की एक पाव मूंग दाल, पचपन पैसे के मूंग साबुत एक पाव, पैतीस पैसे में मोठ एक पाव, सौ ग्राम सरसों तेल तिरपन पैसे, पच्चीस पैसे की हजामत, बारह पैसे के दो पोस्टकार्ड, तिरपन पैसे का एक लीटर मिट्टी का तेल। दैनिक जरूरत की दूसरी चीजों के भावों के ब्योरा अगर दिया जाएगा तो बहुत विस्तार हो जाएगा। इसलिए आप ऊपर के आंकड़ों से ही अंदाजा लगाइए।

अब जरा जायजा लें कि आज बयालीस साल बाद इस साल के मई महीने में क्या भाव चल रहे थे। आप खुद जाकर बाजार में पूछ सकते हैं और कितने गुना महंगाई बढ़ गई है, पता चल जाएगा। फिलहाल कुछ शंकाएं और सवाल ये हैं-एक छोटे परिवार के लिए कौन-सी सब्जी एक रूपए में आती है इन दिनों? हजामत के पच्चीस पैसे कौन लेता है? आय के रूप में सत्यनारायण की पंचाध्यायी कथा बांचने और पूजा कराने के कौन पुरोहित ढाई रूपए लेता है? करीब आठ रूपए में दो किलो चीनी खरीदने का आज जमाना कहां है? और एक रूपए बीस पैसे का बोटलबंद दूध यानी आधा लीटर किस दुकान और डेयरी में उपलब्ध है? बुनियादी सवाल यह भी कि आज के वक्त छोटे सिक्के तो दूर, चवन्नी-अठन्नी बाजार में नजर आती हैं क्या?

इन पंक्तियों के युवा पाठक क्या तस्दीक करेंगे मेरे परिवार में अनुभव के इन भावों को कि आजादी से पहले उन्नीसवीं सदी के तीस-चालीस के दशकों में डेढ़-दो आना सेर दूध बिकता था? आजादी के बाद पचास के दशक में तो चार आने पाव गरम मीठा मलाईदार दूध मैंने पी है दिल्ली के दरिबा-दरियागंज के बाजारों में। इसे उपहास समझ के आप नई पीढ़ी और मिलावटी दूध के जमाने के युवा शायद हंसी उड़ाएं या मुख-वचन ही समझेंगे या तरसेंगे उस जमाने के लिए।

उत्तर- आपने अनावश्यक ही इतना श्रम किया है। यदि जनसत्ता जैसा सम्मानित अखबार इसे नहीं छापता तो मैं इस बेकार की बात का उत्तर भी नहीं देता। आपने महंगाई सिद्ध करने के लिये जो सूची लिखी है वह आपका भ्रम है। न कहीं महंगाई है न कोई चीज महंगी हुई है। सिर्फ सोना चांदी जमीन तथा एक दो और वस्तुएँ ही महंगी हुई हैं। बाकी सब सस्ती हुई हैं। बयालीस वर्ष पूर्व का सन् अडसठ आपका पैमाना है। बयालीस वर्ष पूर्व का रूपया सरकारी रेकार्ड अनुसार आज के बीस रूपये के बराबर है। इसका अर्थ हुआ कि उस समय के एक रूपये में कोई वस्तु जितनी प्राप्त होती थी यदि आज बीस रूपये में उतनी ही मिलती है तो वस्तु न महंगी हुई है न सस्ती। स्वतंत्रता के समय से तुलना करें तो यह आंकड़ा पचपन गुने का है।

अब मैं बयालीस वर्ष का आकलन करूँ तो आज उस आधार पर चीनी उन्यासी रूपया किलो, उड़द की दाल चालीस रूपया किलो, मूंगदाल चौरासी रूपया किलो, मूंग चौवालीस रूपया किलो, सरसों तेल एक सौ छ रूपया, किलो, हजामत पांच रूपया, पोस्टकार्ड एक रूपया बीस पैसे, मट्टीतेल दस रूपया साठ पैसा, कथा बांचने के पचास रूपये, आदि आदि। मैं नहीं समझता कि आज कौन सा उल्लेखनीय अन्तर आ गया कि आप परेशान हो गये। उस समय एक मजदूर दिन भर खेत में काम करता था तो उसे दो किलो अनाज मिलता था। आज चार से छः किलो मिलता है। आप बताइये कि आज अनाज महंगा हुआ कि सस्ता। आप कोई नेता तो हैं नहीं कि समाज को महंगाई के झुठे हल्ले में उलझाकर अपनी रोटी संकते रहें। आप कोई यथार्थवादी दिखते हैं। आपको इनके चक्कर में पड़कर समाज में भ्रम नहीं फैलाना चाहिये।

आपने देखा होगा कि पिछले दिनों महंगाई के खिलाफ भारत बंद हुआ। इस बंद में एक भी गरीब व्यक्ति शामिल नहीं था। सभी मध्यवर्गीय या बड़े लोग शामिल थे जो राजनेताओं के साथ मिलकर गरीब ग्रामीण श्रमजीवी की मामूली सी उन्नति से भी जलते हैं। हर मध्यवर्गीय व्यक्ति को शिकायत है कि मजदूर महंगा हो गया। हर आदमी चाहता है कि उसे डीजल पेट्रोल बिजली इतनी सस्ती मिले कि उसे मजदूर रखना ही न पड़े। उसका सारा काम मशीन कर दे। कल्पना करिये कि सारा उत्पादन मशीन ने कर दिया और श्रम अनावश्यक हो गया तो श्रमजीवियों को आप निःशुल्क भोजन वस्त्र देने के लिये तैयार रहिये। सरकार तो उसके लिये तैयार हो गई है कि वह सस्ता अनाज कपड़ा गरीबों को बांट देगी किन्तु श्रम मूल्य नहीं बढ़ने देगी। क्या यह उचित है?

आपने स्वतंत्रता के समय चार आने पाव मलाईदार दूध बताया। क्या आज भी आपको चार आने पाव ही मलाईदार दूध चाहिये? यदि चाहिये तो गोमूत्र भी उस रेट से नहीं मिलेगा क्योंकि उस समय आपका रूपया चांदी का और पैसा तांबे का था। आज आप उतनी चांदी या तांबा दीजिये और मलाईदार दूध लीजिये। सरकारी रेकार्ड अनुसार आज दूध पचपन रूपया किलो होना चाहिये। आपको चाहिये तीस रूपया किलो तो आपको यूरिया से बना नकली दूध ही तो संभव है। रूपया देंगे नकली और दूध चाहिये असली यह संभव नहीं।

आपने सब कुछ लिखा पर पिताजी का वेतन नहीं लिखा। साधारण वेतन भोगी लिखकर आपने चालाकी की है। उस समय आपके पिताजी को एक सौ रूपया महिना से ज्यादा नहीं मिलता होगा। आप बताइये कि उस समय के एक माह के वेतन में कितनी शक्कर कितनी दाल कितना सरसों तेल मिलता था और आज कितना मिलता है। उस समय आपके मन में गरीब, ग्रामीण, श्रमजीवी के विरुद्ध जलन न होने से आप संतुष्ट थे। आज आप प्रगति की दौड़ में शामिल होकर असंतोष की आग में जल रहे हैं। आपको दिख रहा है गरीब ग्रामीण श्रमजीवी। किस तरह उसकी सब्जी आपको सस्ती मिल जावे। आपका वेतन बढ़ता रहे और दूध तेल गेहूँ घटता रहे। यदि वह बंदूक लेकर वह खड़ा हो जाय तो दोष किसका?

अन्त में मेरा आपसे निवेदन है कि नेता लोगों के समान अपना पेट मत बढ़ने दीजिये। नेता लोग तो यदि सारा भारत खा जाये तब भी पेट का कोना खाली रह जायेगा किन्तु आपका पेट वैसा नहीं। नेताओं तथा मध्यवर्ग उच्च वर्ग को महंगाई का सड़क पर नाटक करने दीजिये और उनके नाटक को देखते रहिये किन्तु प्रभावित होना ठीक नहीं है।

प्रश्नोत्तर

(घ) श्री रामस्वरूप जी, अजमेर, राजस्थान

प्रस्ताव— दिल्ली के राष्ट्रकुल खेलों के आयोजन में भोजन में गोमांस भी शामिल करना हमारी भावनाओं के विरुद्ध है। अनेक धर्म रक्षक सन्तों ने विरोध करने का निर्णय किया है। हमारी इच्छा है कि आप भी इस आंदोलन में शामिल हों।

उत्तर— मैं गोरक्षा के लिये किसी प्रकार के सरकारी कानून की मांग के पक्ष में नहीं हूँ। गोरक्षा के कानून के लिये आंदोलन करना तो ओर भी गलत है। एक तरफ तो हम लोक स्वराज्य, ग्राम सभा सशक्तिकरण, परिवार सशक्तिकरण, समाज सशक्तिकरण राज्य कमजोरीकरण की बात करें और दूसरी तरफ बात बात में सरकार से कानून बनवाने की मांग या आंदोलन करें ये दो मुंही बातें मेरे लिये ठीक नहीं। हमारे पांच मौलिक विचारों में समान नागरिक संहिता भी शामिल है। समान नागरिक संहिता और हिन्दुओं के पक्ष में विशेष कानून एक साथ कैसे संभव है? धर्मगुरु अपने अपने धर्म की बातें समाज पर थोपना चाहते हैं यह ठीक नहीं। अतः मैं ऐसे किसी आंदोलन का भाग या समर्थक नहीं हो सकता। आप लोक स्वराज्य अभियान से जुड़े हैं। आप यदि साथ में गोरक्षा आंदोलन करना चाहें तो वह आपकी अपनी स्वतंत्रता है।

(च) प्रश्न— एक सर्वेक्षण के अनुसार दिल्ली शहर की पैसठ प्रतिशत महिलाएँ यौन उत्पीड़न झेल रही हैं। आंकड़े चिन्तित करने वाले हैं। पुलिस विभाग में महिलाओं की भर्ती अधिक हो। अन्य उपाय भी किये जायें जिससे महिला उत्पीड़न रुक सके।

उत्तर— पूरी दुनिया में राजनेता उस प्राणी को कहा जाता है जो समस्याएँ पैदा करने में माहिर हो और उस समस्या का समाधान इस प्रकार करे कि उससे कोई नयी समस्या पैदा हो जावे। महिलाओं के मामले में भी यही हो रहा है। दुनिया में भारत एकमात्र ऐसा देश है जहाँ की व्यवस्था में चार स्वतंत्र इकाइयों का तालमेल होता है (1) व्यक्ति(2) परिवार(3) समाज(4) राज्य। ये चारों स्वतंत्र इकाइयों होते हुए भी एक दूसरे के साथ इस तरह जुड़ी होती हैं कि चारों एक दूसरे की पूरक भी हों और नियंत्रक भी। राज्य की नीयत अन्य तीन के प्रति बहुत खराब रही है। शासन व्यवस्थाएँ चार तरह की होती हैं (1) साम्यवाद जिसमें राज्य ही एकमात्र इकाई बनकर तीन का कोई अस्तित्व ही नहीं होता(2) लोकतंत्र जो व्यक्ति तथा राज्य को तो मानता है किन्तु परिवार और समाज को नहीं(3) इस्लाम जो परिवार तथा धर्म को तो मानता है किन्तु व्यक्ति समाज और राज्य को नहीं। इस्लाम समाज और राज्य को धर्म के अन्तर्गत मानता है। (4) भारत जहाँ व्यक्ति परिवार समाज और राज्य को स्वतंत्र किन्तु पूरक इकाई माना गया है। स्वतंत्रता के बाद भारत ने लोकतंत्र घोषित किया, साम्यवाद का अनुकरण किया तथा धर्म से समझौता किया किन्तु अपनी प्रणाली को छोड़ दिया। उस समय से भारत की राज्य व्यवस्था लगातार समाज व्यवस्था तथा परिवार व्यवस्था को तोड़ कर राज्य सशक्तिकरण की कोशिश में लगी हुई है। महिला पुरुष संबंध भी ऐसी कोशिशों का ही एक भाग है।

भारतीय व्यवस्था में महिला का कोई स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। या तो महिला एक व्यक्ति है और व्यक्ति के रूप में उसे समान अधिकार प्राप्त होने चाहिये या वह परिवार का एक भाग है जहाँ उसे व्यक्ति के रूप में समान अधिकार तो प्राप्त हैं किन्तु परिवार के रूप में स्वतंत्र अधिकार प्राप्त नहीं। उसे पारिवारिक सहजीवन और अनुशासन मानना होता है। परिवार में महिला और पुरुष का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता क्योंकि दोनों को तीन पैर की दौड़ जीवन भर मिलकर दौड़नी पड़ती है। वहाँ स्त्री और पुरुष दोनों का एक एक पैर तो खुला है किन्तु एक एक पैटकर बंधकर एकाकार हो चुका है। परिवार के अन्दर महिला या पुरुष के व्यक्तिगत अधिकारों के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार नहीं होते। परिवार व्यवस्था को अस्वीकार करने वाले ऐसे पृथक अधिकारों को स्वीकार करते हैं तथा परिवार व्यवस्था को तोड़ने के प्रयत्नों में लगे लोग लगातार महिला सशक्तिकरण के नाम से महिलाओं को अलग वर्ग के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। जब महिला परिवार के साथ संयुक्त है तो उसे पृथक वर्ग के रूप में स्वीकार करना असामाजिक कार्य है। इसे किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

समाज व्यवस्था को तोड़ने वाले तो धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता, गरीब अमीर, उत्पादक उपभोक्ता जैसे छ आधारों पर समाज को तोड़ने में पूर्ण सफल हैं किन्तु परिवार व्यवस्था को तोड़ने वाली योजना अभी प्रारंभिक चरण में ही है। इसके दो भाग हैं (1) महिला पुरुष को अलग अलग करना (2) युवा वृद्ध को अलग अलग करना। दोनों दिशाओं में भारत का हर राजनेता दिन रात कोशिश कर रहा है। हमारे धर्म गुरु भी जाने अनजाने दोनों प्रयत्नों की हां में हां मिलाते रहते हैं। सच्चाई यह है कि ये दोनों ही सशक्तिकरण घातक है तथा बुरी नीयत से प्रचारित किये जा रहे हैं।

जो महिला किसी परिवार का हिस्सा घोषित है चाहे बेटे के रूप में या पत्नी के रूप में या मां के रूप में उसके सशक्तिकरण की चिन्ता वह परिवार करेगा। आप अपनी टांग क्यों फंसा रहे हैं। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि आप अविश्वसनीय है तब तो आपसे और भी अधिक सतर्कता की जरूरत है। समाज आपसे दूरी बनाना चाहता है। राजनेताओं के संबंध में समाज में सर्वेक्षण कराकर देख लीजिये। निर्यान्ववे प्रतिशत समाज इन्हें अविश्वसनीय मानता है। फिर भी ये जबरदस्ती कोई न कोई नारा उछालते रहते हैं। परिवार व्यवस्था को तोड़ने के उद्देश्य से इन्होंने महिला सशक्तिकरण का एक नारा दिया। पूरे भारत की नेता पत्नियों या प्रेमिकाएँ इनकी प्रचारक हो गईं। अठान्न्वे प्रतिशत पारिवारिक महिलाओं को महिला सशक्तिकरण की कोई जरूरत नहीं। ये दो प्रतिशत महिलाएँ अठान्न्वे प्रतिशत की अधोषित ठेकेदार बन गईं हैं। ये तीन चरणों में काम करती है (1) महिला सशक्तिकरण को एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में प्रचारित करना (2) महिला और पुरुष के बीच की दूरी घटाना (3) महिलाओं पर अत्याचार का अतिरंजित प्रचार। पहली योजना पूरी हो गई अर्थात् समाज में महिला सशक्तिकरण का तेज प्रचार हुआ है। हर लेखक कवि साहित्यकार धर्म गुरु, सामाजिक संस्था महिला सशक्तिकरण को आवश्यकता बताने में निरंतर लगे हैं। दूसरा काम जारी है। महिलाओं को लगातार राजनैतिक या सरकारी नौकरी में आने हेतु इस तरह प्रोत्साहित किया जा रहा है कि महिला और पुरुष के बीच की दूरी घटे और तीसरा यह कि महिलाओं पर अत्याचार के अतिरंजित आंकड़े तैयार किये जा रहे हैं। दिल्ली में दो तिहाई कामकाजी महिलाएँ यौन शोषण की शिकार है ये आंकड़े मेरे विचार में अतिरंजित हैं। क्योंकि जारी करने वाली इकाई ही सामाजिक विश्वास पात्र नहीं है। कल्पना करिये कि यदि ऐसा सही भी है तो यह अव्यवस्था किसका परिणाम है? यदि महिला और पुरुष के बीच दूरी घटाई जायेगी तो यौन खतरों का बढ़ना आप रोक ही नहीं सकते। आग और पेट्रोल की दूरी घटाने के खतरे बढ़ने प्राकृतिक हैं। आपको ये खतरे झेलने ही होंगे। यदि दो तिहाई महिलाएँ असुरक्षित हैं तो इसका अर्थ है कि दो तिहाई पुरुष ऐसे अत्याचार में शामिल हैं। यदि स्त्री और पुरुष के बीच की दूरी कम करके महिला सशक्तिकरण करना हमारी सर्वोच्च प्राथमिकता हो और यौन अत्याचार भी न बढ़े तो इसका एक सीधा साधा उपाय है कि दो तिहाई पुरुषों को या तो मार दीजिये या जेल में बंद कर दीजिये। क्योंकि यदि पुरुष स्वतंत्र रहेंगे और महिलाओं से उनकी दूरी घटेगी तो सब पुरुष तो नियंत्रण कर पायेंगे नहीं। जब नेता जैसे सम्मानित जीवों में नारायण दत्त तिवारी, कल्याण सिंह, जार्ज फर्नान्डीज पण्डित नेहरू जैसे पर संदेह होता है तो सामान्य व्यक्ति की क्या चर्चा करें। दोनों काम एक साथ करने के लिये तो पूरा का पूरा सामाजिक ढांचा ही बदलना पड़ेगा और उसके बाद भी मुझे नहीं दिखता कि आग और पेट्रोल की दूरी कम करके हम खतरों को रोकने में सफल होंगे। यदि आप किसी व्यक्ति के अन्दर भूख तीव्र करने का वातावरण बनाते हैं उसकी भूख तृप्ति के वैध साधनों को चारों ओर से रोक देते हैं तथा अवैध साधन उसकी पहुँच के निकट कर देते हैं तो परिणाम का दोषी कौन? सामाजिक वातावरण को कामुक बना बना कर आप उनमें सेक्स की भूख पैदा कर रहे हैं, बहुपत्नी प्रथा, वैश्यावृत्ति, बार बाला डांस, आदि वैध माध्यमों को रोक रोक कर अवैध घोषित करते जा रहे हैं तथा महिला सशक्तिकरण के नाम पर उनकी पहुँच के भीतर महिलाओं को बिठा रहे हैं तो परिणाम क्या होगा। आप राजनीति कूटनीति तो समझते हैं किन्तु समाज शास्त्र आपको पता नहीं। पश्चिम और पूर्व के साम्यवाद पूंजीवाद की दो चार किताबें पढ़कर आप भारत की समाज व्यवस्था के साथ छेड़छाड़ करने लगे। सेक्स पूर्ति के वैध घोषित माध्यमों को अवैध घोषित करने की जल्दबाजी क्यों कर रहे हैं? अवैध घोषित सामाजिक परंपराओं को इतनी तीव्र गति से प्रोत्साहित करने की जल्दबाजी क्यों? क्यों नहीं समाज की चिन्ता के पहले अपने भ्रष्टाचार को दूर करने की चिन्ता कर लेते हैं। उपर से नीचे तक भ्रष्टाचार में डूबी राज्य व्यवस्था पहले अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करे तब स्थापित समाज व्यवस्था की चिन्ता करें। अन्यथा आपमें से भूख पीड़ित लोगों ने तो अपनी अपनी भूख मिटाने की वैध अवैध व्यवस्था कर ली किन्तु शेष अठान्न्वे प्रतिशत क्या करें यह चिन्ता का विषय है।

यदि हमारे नेताओं को ठीक लगे तो एक और भी उपाय है कि आप महिलाओं को शत-प्रतिशत आरक्षण देकर पुरुषों को धर में बिठा दें। यदि ठीक लगे तो राबड़ी जी को मुख्यमंत्री बनाकर लालू जी को खाना बनाने का काम दे दें। यदि उचित हो तो करिये। यदि उचित न हो तो गंभीरता से सोचिये। किसी अलका नामक लेखक ने लिखा कि महिलाओं की संख्या पुलिस में बहुत कम है। महिला थाने और खुलें। अलका जी ने यह नहीं लिखा कि महिलाओं की भर्ती बढ़ाने के बाद

उनकी सुरक्षा की व्यवस्था भी तो करनी पड़ेगी ही। क्योंकि यदि छेड़छाड़ की घटनाएँ बढ़ी तो अलका जी को समस्या प्रलाप से तो हम रोक नहीं सकते। वे तो कलम कागज लेकर महिलाओं पर बढ़ते यौन अपराध पर लिखने बैठ ही जायेंगी। उन्हें तो सिर्फ समस्या उजागर करना मात्र है। समाधान तो हमें करना होगा।

मैं कहना चाहता हूँ कि राजनेता ने परिवार व्यवस्था को तोड़कर समाप्त करने का ठेका उठाया हुआ है। धर्म गुरु इस तिकड़म को समझते नहीं। यदि आप भी नहीं समझे तो नेता सफल हो जायेंगे और यह बात बहुत खतरनाक होगी। स्त्री और पुरुष न एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं न प्रतिस्पर्धी। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इन्हें पूरक के स्थान पर प्रतिद्वंद्वी बनाना कोई समाधान न होकर एक समस्या ही है। इससे बचना चाहिये। महिलाएँ सशक्त हों इससे मुझे कोई आपत्ति नहीं। महिलाएँ राजनीति में आवें तथा सरकारी नौकरी सहित समाज के सभी क्षेत्रों में आगे आवें यह अच्छी बात है किन्तु मैं महिलाओं को आगे लाने के लिये किसी राजनैतिक या कानूनी प्रयत्न के विरुद्ध हूँ। सौ वर्षों में सती प्रथा रोकने के नाम पर जितना समाज को लाभ हुआ उससे कई गुना ज्यादा सौ वर्षों में समाज का नुकसान हुआ है। आज जिस तरह यौन उत्पीड़न बढ़ रहा है वह चिन्ता का विषय है। सती प्रथा रोकने का श्रेय तो सब नेता लेते हैं किन्तु यौन उत्पीड़न बढ़ने का दोष किसका। राजनेताओं ने जिस तरह समाज व्यवस्था के साथ छेड़छाड़ की है उसके स्वाभाविक दुष्परिणाम के रूप में यौन उत्पीड़न वृद्धि को देखा जाना चाहिये।

(छ) आचार्य पंकज, अध्यक्ष व्यवस्था परिवर्तन मंच, रिषिकेश, उत्तरांचल

प्रश्न— आप जिस तरह निजीकरण के पक्ष में बोलते हैं उससे स्पष्ट होता है कि आप पूरी तरह अमेरिका के पक्षधर हैं। आप साम्यवाद की आलोचना करते हैं। आप अमेरिकी परमाणु समझौते की प्रशंसा करते हैं। लगातार ज्ञान तत्व पढ़ते पढ़ते मुझे विश्वास हो चला है कि आप पूंजीवाद और अमेरिका के पक्षधर हैं।

उत्तर— आपक संदेह आंशिक रूप से सच भी हो सकता है। मैं लोकतंत्र और साम्यवाद की तुलना में साम्यवाद विरोधी हूँ। व्यक्ति परिवार समाज और धर्म व्यवस्था को कुचलकर राज्य व्यवस्था को मजबूत करना मुझे गलत दिखता है। अपने देश को लौह दीवारों से घेरकर जेल के समान अनुभूति कराकर उसे स्वर्ग बताना भी मैं ठीक नहीं समझता। अधिकारों के अधिकतम केन्द्रीयकरण का मैं पूरी तरह विरोधी ही हूँ। बताइये कि मैं किस तरह साम्यवाद की प्रशंसा करूँ। आपने मुझे अमेरिका परस्त कहा है उसमें कोई नई बात नहीं है। आज तो अमेरिका का पक्षधर कहकर दूसरों की आलोचना करना एक फैशन बन गया है। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि पूंजीवाद अमेरिका, विदेशी कम्पनियों का विरोध करते करते आप ही तो साम्यवादी प्रशंसक नहीं बन गये हैं? विचार करियेगा। अर्थनीति के मामले में मैं सरकारीकरण के विरुद्ध सम्पूर्ण निजीकरण का पक्षधर हूँ। मैं सरकार वाद की तुलना में बाजारवाद को कम घातक मानता हूँ। मैं वर्तमान सरकार की क्रमशः निजीकरण से असहमत होकर अधिकतम निजीकरण का पक्षधर हूँ। सरकारीकरण सिद्धान्त रूप से घातक है। जिस राज्य व्यवस्था के पास सेना पुलिस न्याय जैसी प्रशासनिक शक्तियाँ एकत्रित हों उसे धन पर भी एकाधिकार दे देना कहीं की बुद्धिमानी होगी। जो राज्य व्यवस्था नख से शिख तक भ्रष्टाचार में डूबी हुई हो उसी भ्रष्ट व्यवस्था को आर्थिक शक्तियाँ भी सौंप देने के मैं विरुद्ध हूँ। स्पष्ट है कि मैं सरकारीकरण की जगह पर निजीकरण का पक्षधर हूँ। आजकल निजीकरण का विरोध भी एक फ़ैशन की तरह है। हर आदमी सरकारीकरण के समर्थन के उद्देश्य से निजीकरण को गाली देता रहता है। मैं तो इस संबंध में बिल्कुल स्पष्ट हूँ। राज्य या तो स्वतंत्र अर्थपालिका शुरू करें या निजीकरण कर दें किन्तु अर्थ व्यवस्था को अपने पास बिल्कुल न रखे। आप क्या सोचते हैं यह आप स्पष्ट करेंगे।

मैं साम्यवाद के विरुद्ध पूंजीवाद का, चीनी बन्द समाज व्यवस्था के विरुद्ध पश्चिम की खुली समाज व्यवस्था तथा सरकारीकरण के विरुद्ध निजीकरण का पक्षधर हूँ। किन्तु यदि पूंजीवाद, लोकतंत्र, खुली समाज व्यवस्था, अमेरिका का पक्ष, निजीकरण आदि की तुलना समाजीकरण, लोक स्वराज्य, समाज नियंत्रित तंत्र, परिवार सशक्तीकरण स्वतंत्र अर्थपालिका आदि से हो तो मैं पूरी तरह अमेरिकी नीति के विरुद्ध हूँ। मैं पाश्चात्य राजनैतिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध नहीं किन्तु उनका प्रति स्पर्धी अवश्य हूँ। मैं कभी इतना निराश नहीं कि अमेरिका का विरोध करते करते केन्द्रीयकरण का समर्थन करने लग जाऊँ। आशा है कि आप समझेंगे।

मेरे कई मित्र आर्थिक मामलों पर तो बहुत बढ़ चढ़ कर बोलते हैं किन्तु राजनैतिक विकेन्द्रीयकरण के विषय पर चुप हो जाते हैं। वे आर्थिक असमानता को तो घातक मानते हैं किन्तु राज्य को बुराई घोषित करने में आगे पीछे देखने लगते हैं।

मुझे ऐसे मित्रों की नीयत पर बराबर शक रहता है। मुझे लगता है कि मेरे मित्र आर्थिक असमानता की बीमारी को अपने राजनैतिक स्वार्थ के लिये उपयोग करना चाहते हैं। संभवतः उनकी सोच है कि आर्थिक असमानता के विरुद्ध लगातार आंदोलन उन्हें सत्ता तक पहुँचाने में सहायक हो सकता है। ऐसे मित्रों से भी सावधान रहने की आवश्यकता है। मैं आश्वस्त हूँ कि इस मामले में अब तक आप सतर्क हैं और आगे भी रहेंगे। हम मिल जुल कर प्रयत्न करें कि ऐसे तत्व सफल न हो सकें।